# बेजिंग में महामारी

## सार्स के आईने में चीनी राष्ट्रवाद और आधुनिकता का अक्स

संजय शर्मा

**Ailing health system exposed**

*Crisis reveals public complacency over infectious diseases*

सन् 2003 में चीन में बसन्त और गर्मी के महीनों में एक बीमारी फैली जिसे एक लम्बा नाम दिया गया — सिवियर अक्यूट रेस्पिरेटरी सिन्ड्रोम — जो अपने संक्षिप्त रूप सार्स से जानी गयी। मगर तब तक यह बीमारी जानी-पहचानी नहीं थी। मालूम हुआ कि इस रोग का कारण एक वायरस था। यह जानकारी भी बीमारी को ख़ासियत प्रदान करने में असमर्थ थी। आख़िर दुनिया में ज़्यादातर बीमारियाँ किसी वायरस या बैक्टीरिया की वजह से ही होती हैं। लेकिन चन्द हफ़्तों में सार्स एक बीमारी से महामारी बन गयी जिसे चीन के वर्तमान वैचारिक और सांस्कृतिक संदर्भ ने नये अर्थों से नवाज़ा। सार्स से मरने वालों की संख्या तो ज़्यादा नहीं थी किन्तु उसने चीनी समाज में गहरी चिन्ताएँ पैदा कर दीं, उसे बहुत उद्वेलित कर दिया। सार्स के प्रति चीनी राज्य और समाज की प्रतिक्रियाओं में राष्ट्रवाद, आधुनिकता और विकास की अवधारणाओं पर लगे प्रश्नचिन्हों की तलाश करना इस स्मृति लेख का मक़सद है।

बात सन् 2003 के मार्च महीने की है। मैं दिल्ली से बेजिंग जा रहा था बैंकॉक हो कर। उन्हीं दिनों अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन का एक अधिकारी भी बैंकॉक से बेजिंग पहुँचा और थोड़े समय बाद उसकी मौत एक विचित्र बीमारी से हो गई जो फ़्लू जैसी थी। अभी तक इस बीमारी का आधिकारिक नाम लोगों की ज़बान पर चढ़ा नहीं था। बेजिंग में फुसफुसाहट थी — एक फ़्लूनुमा वायरल बुख़ार या न्यूमोनिया जैसी बीमारी के फैलने की। लेकिन रोग से कोई घबराने वाली बात नहीं थी, इसलिए भी क्योंकि उसका प्रकोप सुदूर दक्षिण के गुआदोंग प्रांत तक सीमित था। वहाँ रोग के कुछ मामले सन् 2002 के अन्त से सामने आये थे। लेकिन सरकार ने आश्वासन दे दिया था — चिन्ता की कोई बात नहीं थी। मीडिया के लिए यह एक सॉफ़्ट स्टोरी थी; अख़बारों के अन्दर के पन्नों की ख़बर!

भयंकर जाड़े के बाद बसन्त की आहट थी। हवा में कटकटुआ ठंड की जगह अब मीठी चुभन थी। फ़रवरी 2003 से नया चीनी वर्ष शुरू हो चुका था जिसका प्रतीक था मेंढ़ा या भेड़। चारों तरफ़ लाल क़ंदीलें ओर भेड़ें नज़र आ रही थीं — खिलौनों, चमकते बल्बों और फूलों को भेड़ की शक्ल दे दी गयी थी। बसन्त ऋतु के राष्ट्रीय पर्व पर मिली छुट्टी में लाखों लोग (बल्कि करोड़ों कहना बेहतर होगा क्योंकि बात चीन की हो रही है) घूमने-फिरने और बिछड़े रिश्तेदारों से मिलने जा रहे थे। इस त्यौहारी उन्माद में चीनी राष्ट्रवाद और उसकी कामयाबी की गंध महसूस की जा सकती थी।

मीडिया, चीन के आर्थिक करिश्मे का ज़िक्र करने का कोई मौक़ा नहीं छोड़ता था। बरसों से दस फ़ीसदी सालाना की सकल घरेलू उत्पाद दर, प्रत्यक्ष विदेशी पूँजी निवेश में दुनिया का नंबर एक देश बन जाना आदि। चीनी जनता को यह बताया जा रहा था कि दुनिया भर में बच्चे आज जिन खिलौनों से खेलते हैं उनमें से अस्सी प्रतिशत चीन में बने हैं। हालाँकि चीनी उत्पादकों को इस बात का मलाल है कि उनके खिलौने बार्बी गुड़िया की माफ़िक़ कोई ब्रैण्ड नहीं बन पाये हैं। सरकारी टीवी (चाइना सेन्ट्रल टेलीविज़न) पर नाच-गानों के रंगारंग कार्यक्रम प्रसारित हो रहे थे। चीनी लोगों की ख़ुशहाली के प्रमाण प्रस्तुत किये जा रहे थे — 'लोग पहले की तुलना में

अधिक हवाई यात्राएँ कर रहे हैं, आज के बच्चे ज़्यादा लम्बे हैं — सड़कें चौड़ी होती जा रही हैं, हवा ज़्यादा साफ़ है' — उपलब्धियों की यह फ़ेहरिस्त अनन्त थी। माहौल वाक़ई ख़ुशनुमा था। बहुत सारे लोग पारंपरिक ड्रैगन नृत्य देखने में मशगूल थे, अन्य लोग प्रसिद्ध फ़िल्मकार ज़ैंग यीमो को धूम मचा देने वाली ताज़ा फ़िल्म 'हीरो' का मज़ा ले रहे थे और सभी तरह-तरह के चीनी व्यंजनों ख़ास कर 'डंपलिंग्स' (मैदे से बना, समोसे जैसा) का लुत्फ़ उठा रहे थे। हवा में यौवन की बहार थी। नये चीनी प्रशासक — राष्ट्रपति हु जिनताओ और प्रधानमंत्री वेन जिआबाओ साठ साल के आस-पास थे। चन्द महीने में एक चीनी यान अंतरिक्ष में जाने वाला था। दुनिया का सबसे अमीर आदमी बिल गेट्स मार्च 2003 में चीन की आठवीं यात्रा पर था।

लेकिन कितने लोग यह जानते थे कि हवा में एक ख़तरनाक वायरस पनप रहा था। मार्च के महीने में एक फ़्लूनुमा बीमारी की चर्चा तो थी जिससे तेज़ बुख़ार और साँस लेने में तकलीफ़ हो रही थी। मगर तब भी यही माना जा रहा था कि यह साँस की एक और बीमारी है जो अन्य रोगों की तरह आगे-पीछे ठीक हो जाएगी। आखिर चीन में साँस संबंधी बीमारियाँ जैसे न्यूमोनिया, टीबी और फेफड़े का कैंसर आम बीमारियाँ हैं। यह माना जा रहा था कि नये वायरस का प्रकोप दक्षिणी इलाक़ों तक ही सीमित है। उत्तर के बड़े शहर जैसे शंघाई, बेजिंग या तिआन्जिन सुरक्षित थे। अफ़वाहें फैलने लगीं। चारों ओर यह खुसुर-फुसर होने लगी कि नये वायरस की गिरफ़्त में बहुत लोग आ गये हैं। मगर कितने? बीमारी के बारे में अटकलों का बाज़ार गर्म होने लगा। अचानक लोगों के चेहरों पर मास्क दिखने शुरू हो गये। छः अप्रैल को एक विदेशी व्यक्ति पेक्का आरो की बेजिंग के एक अस्पताल में उस रहस्यमयी बीमारी से मौत हो गयी। फ़िनलैंड का यह व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की ओर से मार्च में बैंकॉक हो कर चीन आया था, उन्हीं दिनों जब मैं भी बेजिंग पहुँचा था। लेकिन चीनी मीडिया पर सरकारी मुहावरों की छाप थी। बेजिंग में स्थिति को नियंत्रण में बताया जा रहा था — सब कुछ 'सामान्य' और 'सुरक्षित' था। लेकिन नौ अप्रैल को प्रधानमंत्री वेन जिआबाओ ने स्वीकार किया कि बीमारी की स्थिति 'गंभीर' थी। मीडिया के लिए यह स्वीकारोक्ति भले ही बड़ी ख़बर थी मगर आम लोग इससे ख़ास चौंके नहीं — उन्हें तो पहले से ही शक था कि बीमारी अपने पैर पसार चुकी है। सरकारी बयानों से रोग से संक्रमित लोगों तथा मरने वालों की संख्या में आम नागरिकों का विश्वास और घट गया। यक़ीन कम हुआ और घबराहट बढ़ी। चारों ओर बदहवासी और आपाधापी मच गयी। लोग बाज़ारों पर टूट पड़े और रोज़मर्रा जीवन की ज़रूरतों के लिए जम कर ख़रीदारी करने लगे। विशालकाय सुपरमार्केट और मॉल में ख़रीदारों की अप्रत्याशित भीड़ चीज़ें ख़रीद कर अपने घरों में सिमटने लगी। लोग सामाजिक संपर्क और सार्वजनिक स्थलों से कन्नी काटने लगे। घरों की खिड़कियाँ बंद हो गयीं और लोग दूसरों से हाथ मिलाने से कतराने लगे। सब कुछ वाक़ई अजीब था। लोगों के देह की भाषा ही बदल गयी। दुनिया से कटे चिन्ताग्रस्त लोग घरों में सार्स से बचने के लिए तरह-तरह के चीनी

नुस्ख़े आज़माने लगे। घरों में सिरका उबाला जाने लगा और विभिन्न जड़ी-बूटियों के सेवन से वायरस को दूर भगाने का प्रयास किया जाने लगा। चीनी स्वास्थ्य अधिकारियों से ये सब बातें छिपी नहीं थीं और शायद उन्होंने यह महसूस किया कि बीमारी के बारे में लोगों को जितना कम बताया जायेगा वे अफ़वाहों और घरेलू इलाज पर उतना ज़्यादा यक़ीन करेंगे। पारदर्शिता मजबूरी भी बन गयी और ज़रूरत भी। 20 अप्रैल को एक संवाददाता सम्मेलन हुआ जिसका सीधा प्रसारण किया गया। संवाददाता सम्मेलन में एक मंत्री गाओ छिआँग ने स्वीकारा कि बीमारी के बारे में तब तक दिये गये सरकारी आँकड़े असलियत को छुपाने वाले थे। इसका ख़मियाज़ा भुगतना पड़ा स्वास्थ्य मंत्री ज़ैंग वेनकाँग और बेजिंग के मेयर मेंग शुएनाँग को जिन्हें पार्टी पदों से हटा दिया गया। उसके बाद रोज़ एक 'लाइव' प्रेस कॉंफ्रेंस होने लगी। 23 अप्रैल 2003 को *पीपुल्स डेली* ने लिखाः

'आम जनता को सही तथ्य और सही समय पर जानकारी उपलब्ध करवाना उन्हें बीमारी का ज्ञान कराने के साथ एकजुट भी करेगा। बदहवासी का आतंक तभी रुकता है जब लोगों को पूरी तरह से सूचित किया जाये।'

अब चीनी उप-प्रधानमंत्री वू यी को स्वास्थ्य मंत्रालय सौंप दिया गया। उनकी छवि एक कड़क किन्तु स्नेहमयी महिला की थी — जो देश में बीमारों की माँ-समान देखभाल कर सकती थी। उन्होंने और कम्युनिस्ट पार्टी ने सार्स को जनता और राष्ट्र का जानी-दुश्मन घोषित कर दिया। देश के नये नेतृत्व के सामने उसे गंभीर चुनौती के रूप में देखा जाने लगा — कहीं ऐसा तो नहीं कि नये शासकों पर से जुमा-जुमा आठ दिन बाद ही 'स्वर्ग का साया' उठ गया? आख़िर चीन में व्यवस्था विरोध के लिए इसी विचार का सदियों से सहारा लिया जाता रहा है। सरकारी मीडिया नये नेताओं — हू जिनताओ, वेन जिआबाओ और वू यी को आम लोगों से घुलते-मिलते दिखाने में जुट गया। माहौल में गंभीरता पसरती जा रही थी। स्कूल, कॉलेज, सिनेमाघर, थियेटर, इंटरनेट कैफ़े और अनेक बाज़ारों पर ताले लग गये। पर्यटन डूबने लगा और विदेशी पर्यटक तो ऐसे ग़ायब हुए जैसे गधे के सिर से सींग। अर्थव्यवस्था को होने वाले संभावित नुक़सान की चर्चा गर्म हो गई और उससे भी ज़्यादा चिन्ता चीन की अन्तर्राष्ट्रीय छवि को लेकर थी। अब भी यही कहा जा रहा था कि बीमारी की शुरुआत के लिए 'विदेशी' तत्त्व ज़िम्मेदार थे। मगर बीमारी बाहर से आयी या अन्दर से — वास्तव में इससे किसी को क्या लेना-देना था? क्या चीनी व्यवस्था को अपने गरेबान में झाँक कर नहीं देखना चाहिए था? वायरस चीनी था या विदेशी, मरने वाले को इससे क्या फ़र्क़ पड़ता था? एक पुरानी चीनी कहावत है — 'हज़ार दिनों तक सेना इसलिए पालो-पोसो ताकि एक घंटे उसका इस्तेमाल किया जा सके।' सवाल यह उठ रहा था कि क्या वह सेना संकट की घड़ी में घंटे भर लड़ने की ताक़त रखती थी? चीनी राज्य ने सार्स रूपी दुश्मन के विरुद्ध प्रचार में अपनी पूरी शक्ति लगा दी। जगह-जगह पोस्टर लगाये गये जिनमें तनी हुई मुट्ठी के साथ वादा किया गया — "चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में हमारी सरकार द्वारा सार्स को निश्चित रूप से जीता जायेगा।"

सार्स ने चीन की स्वास्थ्य व्यवस्था में अचानक सेंध लगा दी। उन दिनों वहाँ यह महसूस हुआ जैसे चीनी निज़ाम बीमारी के ज़रिये सार्वजनिक स्वास्थ्य प्रणाली में ख़ामियाँ देखने की बजाय उससे शर्मसार ज़्यादा था। लेकिन फिर कुछ दीगर आवाज़ें भी सुनायी पड़ने लगीं जिससे स्वास्थ्य संबंधी मसलों पर बहस का आभास हुआ। कुछ जाने-माने बुद्धिजीवियों ने सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं पर आर्थिक सुधारों के असर की आलोचनात्मक समीक्षाएँ प्रस्तुत कीं। अख़बारों में इस आशय के लेख छपने लगे। *चाइना डेली* नामक अँग्रेज़ी अख़बार में 24 अप्रैल, 2003 को छपे एक लेख में हू अनगाँग और हू लिनलिन ने तीखी टिप्पणी की कि स्वास्थ्य सुविधाएँ पाना हर नागरिक का बुनियादी हक़ है और इस क्षेत्र से राज्य का धीरे-धीरे हाथ खींचना अनुचित है। लेख में यह भी कहा गया कि सरकार और बाज़ार के बीच संतुलन गड़बड़ा गया है और लोगों की सेहत बाज़ार भरोसे नहीं छोड़ी जा सकती क्योंकि यह सरकार का उत्तरदायित्व है। *चाइना डेली* के 29 मई अंक ने पहले पन्ने पर सुर्ख़ी लगाई : "बीमार स्वास्थ्य व्यवस्था पर से पर्दा उठा : संकट ने संक्रामक रोगों पर हाथ-पर-हाथ धरे रहने की नीति की पोल खोली।"

'आम जनता को सही तथ्य और सही समय पर जानकारी उपलब्ध करवाना उन्हें बीमारी का ज्ञान कराने के साथ एकजुट भी करेगा। बदहवासी का आतंक तभी रुकता है जब लोगों को पूरी तरह से सूचित किया जाये।'

सार्वजनिक स्वास्थ्य पर उठ रहे इन सवालों में दम तो था ही। अनेक शोधकर्त्ताओं ने इस तथ्य की पुष्टि की है कि हाल के वर्षों में चीन के ग़रीब इलाक़ों के निर्धन तबक़ों में संक्रामक रोगों ने पुनः सर उठाया है। चीनी मीडिया खासकर अख़बारों में स्वास्थ्य-संबंधी आँकड़े अफ़सोस प्रकट करने लगे कि चीन अपने कुल वित्तीय ख़र्च का केवल 1.7 प्रतिशत स्वास्थ्य पर ख़र्च करता है जबकि अमरीका और ब्रिटेन में यह आँकड़ा 14 प्रतिशत के आस-पास है। सबसे ज़्यादा चिन्ता तो बीमारी के ग्रामीण इलाक़ों में फैलने की संभावना से थी। चीन के बड़े शहरों में आज बड़ी तादाद उन श्रमिकों की है जो गत बीस-पच्चीस सालों से रोज़गार की तलाश में गाँवों से शहरों में आते रहे हैं। नये चीनी आर्थिक मॉडल में पिछड़े इलाक़ों से ग़रीब ग्रामीण जनों को बाक़ायदा एक सुनियोजित तरीक़े से शहर पलायन कराने की रणनीति अपनायी गई है। शहरों में इसे 'तैरती जनसंख्या' (लिउदौंग रेन्कोउ) माना जाता है जो उद्योग-धंधों और सम्पन्न लोगों के लिए सस्ते श्रम का स्रोत है।

यह तैरता जनसमूह अपने मूल स्वभाव के अनुरूप जड़विहीन है — आज यहाँ तो कल कहीं और। डर इस बात का था कि अगर उनमें से सार्स पीड़ित लोग घबरा कर अपने गाँव लौट गये तो वे क़हर ढा देंगे। वो इसलिए क्योंकि ग्रामीण क्षेत्रों में 1949 की क्रांति के बाद समतावादी माहौल में पनपी मशहूर स्वास्थ्य व्यवस्था आज छिन्न-भिन्न हो चुकी है। उस ज़माने के bare-foot doctors जिन्होंने पैदल घूम-घूम कर लोक-इलाज और स्वास्थ्य जागरूकता की अनूठी घुट्टी ईजाद की थी आज बाज़ारवाद की गोद में जा बैठे हैं। सार्स जैसी अभूतपूर्व और गंभीर बीमारी से निपटने की औक़ात ग्रामीण स्वास्थ्य सेवाओं के पास अब नहीं थी। अचानक चीन के विकसित शहरी और पिछड़े ग्रामीण इलाक़ों के बीच गहरी होती खाई, क्षेत्रीय असमानताएँ और ग़ैर-बराबरी के नये लक्षण उसके अद्भुत विकास और आधुनिकता की चमक फीकी करने लगे। भला इसे कैसे बर्दाश्त किया जा सकता था।?

सार्स के विरुद्ध दुंदुभि बजा दी गई। चीनी राज्य की अकूत शक्ति और समाज को लामबंद करने की क्षमता प्रकट हुई। संदिग्ध सार्स रोगियों को पकड़ कर विशेष अस्पतालों में भर्ती कर समाज से काट दिया गया। उस समय तक बीमारी को जितना समझा गया था उसके हिसाब से यह ज़रूरी माना गया। प्रभावित इलाक़ों की नाकाबंदी कर दी गयी। अफ़वाह गर्म थी कि बेजिंग में कर्फ़्यू लगा कर शहर की सीमा सील कर दी जायेगी मगर ऐसा हुआ नहीं और फिर सब कुछ उल्टा होने लगा। डॉक्टरों ने ये बताया कि बन्द कमरों में रहने से रोग से बचाव नहीं होगा। लोगों से अब यह आग्रह किया जाने लगा कि वे खिड़कियाँ खोलें और खुले स्थानों में घूमें-फिरें और व्यायाम करें। नतीजतन सारे पार्क लोगों से भर गये। बाग़ों, झीलों और मोहल्ले के पार्कों में लगे झूलों पर लोग अपने परिवारों के साथ खेलन-कूदने लगे। दुकानों से बैडमिंटन रैकेट ग़ायब हो गये क्योंकि जगह-जगह लोग खेल में हाथ आज़माने लगे। चीन में वृद्ध लोग अकसर धीरे-धीरे उल्टा चलते दिखायी पड़ते हैं क्योंकि यह विश्वास किया जाता है कि उल्टे क़दम चलना पीठ दर्द दूर करता है और ध्यान केन्द्रित करने में मदद करता है। सार्स ने अब पूरे समाज की जैसे दिशा ही उलट दी। जो ख़ोमचे वाले पहले मौसमी फल और शकरकंद बेचते थे, अब नाक-मुँह पर लगाने वाले नक़ाब (mask) बेचने लगे। बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ भी भला कैसे पीछे रहतीं: 'मैक्डॉनल्ड जाओ और बर्गर के साथ एक मास्क मुफ़्त पाओ।' सड़कों पर थर्मामीटर यूँ बिकने लगे जैसे भारत में चुरमुरा और पान मिलता है। पूरे शहर से कीटनाशक दवाई की गंध आने लगी और अनेक इमारतों में प्रवेश से पहले एक कैमरानुमा यंत्र शरीर का तापमान नापने लगा कि कहीं बुख़ार तो नहीं।

यह सब कुछ शायद बीमारी को क़ाबू में लाने के लिए ज़रूरी था। लेकिन ये सवाल भी महत्वपूर्ण है कि इसके बहाने क्या हुआ और चीनी समाज को सार्स के दर्पण में अपना चेहरा कैसा नज़र आया? जहाँ पहले बीमारी के लिये बाहरी तत्त्वों को ज़िम्मेदार ठहराने की कोशिश की गयी थी, अब उसके फैलने के लिए आम चीनी की बुरी आदतों को दोष दिया जाने लगा। लोगों की अस्वच्छ आदतों पर हल्ला बोला गया। कहा जाने लगा कि आम लोग सड़कों पर थूकते हैं, ठीक से हाथ नहीं धोते, दाँत साफ़ नहीं करते और नहाने से जी चुराते हैं। और बाज़ारों का यह हाल था कि वे व्यक्तिगत सफ़ाई के लिए सैकड़ों साबुन, मंजन, शैम्पू, लोशन से पटे पड़े थे। कहाँ एक ओर आधुनिक तकनीक से बनी ढेरों चीज़ें और लोग जाहिल! वो समाज भला आधुनिक कहलाने लायक़ कैसे हो सकता है जहाँ लोगों की आदतें गंदी हों और जहाँ कीटाणु हों! आख़िर एक कीटाणु मुक्त समाज ही आधुनिकता का दावा ठोंक सकता है। चीन की बरसों की मेहनत पानी में जाती दिखायी पड़ने लगी। ये तो अच्छा हुआ कि सार्स कैनेडा जैसे विकसित देश में भी फैला जिससे चीनी आधुनिकता की लज्जा बचाने में मदद मिली।

चूँकि रोग का कोई कारगर इलाज किसी भी चिकित्सा पद्धति में नहीं मिल पा रहा था इसलिए चीन में लोग पारंपरिक चीनी इलाज की ओर मुड़े। पश्चिमी दवाओं की बजाय तरह-तरह के चीनी नुस्ख़े आज़माये जाने लगे। लेकिन परंपरा की ओर यह झुकाव भी एक अति-राष्ट्रवादी एजेण्डे का शिकार होता नज़र आया। यह भावना तीव्र होने लगी कि चीनी चिकित्सा पद्धति में सार्स का कुछ न कुछ निदान अवश्य है और इस तरह से वह पश्चिमी इलाज विधि से बेहतर है। यहाँ अहम सवाल ये नहीं है कि सार्स का इलाज कौन ढूँढेगा? महत्वपूर्ण मुद्दा ये है कि सार्स को जीतने की मुद्रा अपनाने वाला समाज जीतने के लिए किस वैचारिक ऊर्जा का प्रयोग कर रहा है? सब कुछ जीत लेने की अदम्य आकांक्षा — चाहे वो विश्व बाज़ार हो, प्रकृति हो या बीमारी — क्या डरावनी नहीं है?

**सार्स के बहाने चीन की आधुनिकता को उलाहने**

1949 की क्रांति के बाद चीनी समाज में हैरतअंगेज़ बदलाव आया है। 1976 तक माओ और चाउ एन लाई का युग रहा जिसमें ग्रेट लीप फॉर्वर्ड (लंबी या महान छलाँग, 1958) तथा सांस्कृतिक क्रांति (1966-76) जैसे उथल-पुथल भरे किन्तु अनूठे दौर रहे। 1978 के बाद देंग शिआओ पिंग के नेतृत्व में चीन में आर्थिक सुधारों का जो सिलसिला शुरू हुआ वो आज भी अनवरत जारी है। गत पच्चीस वर्ष में चीन ने अभूतपूर्व आर्थिक विकास दर हासिल की है। आँकड़े करिश्माई हैं — सकल घरेलू उत्पाद दर में नौ से दस प्रतिशत की सालाना बढ़ोत्तरी हुई है और ग़रीबी में ज़बर्दस्त कमी आयी है। सन् 2002 में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश 52 अरब डॉलर हो गया और चीन ने इसमें अमरीका को दूसरे स्थान पर ढकेल दिया। यह आँकड़े हवाई नहीं हैं बल्कि आँखों को चुँधियाते हैं। आज बेजिंग और शंघाई ही नहीं, चीन के अपेक्षाकृत छोटे शहरों में भी ठोस समृद्धि दिखाई पड़ती है। बेजिंग का गौरवशाली अतीत और उसके अवशेष आज आधुनिक ढाँचों के बीच कसमसा रहे हैं।

विदेशी पर्यटक यह नहीं तय कर पाते कि चीन के महान अतीत से अभिभूत हुआ जाये या वर्तमान की उपलब्धियों से। जिधर देखो चौड़ी सड़कें, फ़्लाईओवर, चमकदार मॉल, रेस्त्राँ, रिहायशी गगनचुंबी अट्टालिकाएँ, बैंक — ग़ज़ब का 'समाजवादी' वैभव! निश्चित रूप से पिछड़े इलाक़े भी हैं लेकिन समृद्धि केवल मरीचिका नहीं है — पुराने बर्तनों पर की गयी कोरी क़लई नहीं है। दुनिया भर में बिकने वाला सस्ता चीनी सामान इसका अहसास तो कराता ही है। आख़िर यह चीन में बन रहा है, बिक रहा है, मुनाफ़ा दे रहा है। आज विशेषज्ञ सहमत हैं कि चीनी आर्थिक करिश्मा पहले हुए 'पूर्वी एशियाई करिश्मे' से भी बड़ा है। याद रहे कि दक्षिण कोरिया, सिंगापुर, हाँग-काँग और ताइवान की आर्थिक उपलब्धियाँ अपेक्षाकृत कम लोगों को हासिल हुईं। चीन तो 130 करोड़ लोगों का देश है।

आज चीन में ग़ैर-बराबरी उभरी है लेकिन विशेषज्ञ मानते हैं कि आर्थिक विकास आज भले ही समता पर आधारित न हो किन्तु उसमें बहुसंख्यक चीनियों की भागीदारी है। चीन का वर्तमान आर्थिक विकास क्रांति के बाद की सामाजिक उपलब्धियों के दम पर हो रहा है। समाजवादी दौर में शिक्षा, स्वास्थ्य और महिलाओं के प्रति अधिक बराबरी से युक्त नज़रिये जैसी उपलब्धियों को समाजवाद के कट्टर आलोचकों को भी मन मार कर स्वीकार

करना पड़ता है। वे समाजवाद की विफलता और पूँजीवाद की कामयाबी का राग चाहें तो अलाप लें किन्तु अधिकांश चीनियों को आज इससे मतलब नहीं है कि उनके समाज को समाजवादी, पूँजीवादी या 'समाजवादी बाज़ार अर्थव्यवस्था' का नाम दिया जाये। ऐसा लगता है कि यह गुत्थी सुधारवाद के जनक देंग शिआओ पिंग ने सुलझा दी है। उनकी इस प्रसिद्ध उक्ति ने व्यावहारिक होने को फ़लसफ़े का दर्जा दियाः "बिल्ली का रंग काला हो या सफ़ेद अगर वह चूहा पकड़ सकती है तो रंग से क्या फ़र्क़ पड़ता है।"

व्यवहार कुशल चीन में आज वर्ग संघर्ष और अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद की गूँज नहीं सुनायी पड़ती। ये नारे वहाँ की विचारधारा से उसी तरह ग़ायब हो गये हैं जैसे वो 'लाल किताब' जो सांस्कृतिक क्रांति (1966-76) की प्रतीक बन गई थी। अब 'लाल किताब' थियानन्मेन चौक पर माओ की तस्वीरों और चाबी के गुच्छों के साथ पर्यटकों को लुभाने के लिए बेची जाती है। इस चौक पर 1989 में छात्रों पर टैंक चढ़ाये जाने की दर्दनाक घटना को चीनी प्रशासन स्मृति से मिटा देना चाहता है या ज़्यादा से ज़्यादा थोड़ा खेद प्रकट कर पुरानी बातों को भूल जाने का आग्रह करता है। जनतंत्र की माँग करने वाले छात्रों की जान फिर भी शायद पूरी तरह व्यर्थ नहीं गयी। आज चीन में पहले की तुलना में ज़्यादा आज़ादी है हालाँकि राजनीतिक सुधारों की गति आर्थिक सुधारों की अपेक्षा काफ़ी धीमी है। लोगों से जब प्रजातंत्र के बारे में पूछो तो थोड़ा रक्षात्मक हो कर कहते हैं — 'लोकतंत्र का केवल पश्चिमी रूप ही सब कुछ नहीं है। हमारे यहाँ चीनी संस्कृति के अनुरूप लोकतंत्र है और सांस्कृतिक क्रांति के ज़माने की तुलना में आज कहीं ज़्यादा स्वतंत्रता है जिसकी कभी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी।'

यक़ीनन आज चीन में पहले की तरह पाबंदिया नहीं रहीं और यह ग्लोबल होते चीन में उतनी संभव भी नहीं हैं। आज तो वहाँ अमीर होने का भूत सवार है। देंग शिआओ पिंग ने तो यहाँ तक कहा कि अमीर होना गौरव की बात है यानी 'गर्व से कहो हम अमीर हैं'! चीन आज दुनिया की छठी बड़ी अर्थव्यवस्था है और उसकी मंशा है कि सन् 2020 तक जापान और सन् 2050 तक अमरीका को पछाड़ कर नंबर एक दर्जा हासिल करे। यह एक महत्वाकांक्षी राष्ट्रीय कामना है — विशालकाय और दैत्याकार। यह राष्ट्रवादी तमन्ना सुरसा की तरह सब कुछ निगल जाना चाहती है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रौद्योगिकी और संस्कृति का धुआँधार इस्तेमाल किया जा रहा है। हर योजना बड़ी और राष्ट्र पर चार चाँद लगाने वाली होनी चाहिये। दुनिया में बड़ी बाँध परियोजनाएँ पर्यावरण की दृष्टि से संदिग्ध हो चली हैं परन्तु चीन में विशालकाय *थ्री गॉर्जेज़* प्रॉजेक्ट पर काम ज़ोरों से चालू है और जब यह परियोजना पूरी होगी तो विश्व की सबसे बड़ी होगी। अमरीकी कार कंपनी जनरल मोटर्स का आकलन है कि सन् 2025 तक चीनी कार बाज़ार अमरीका के कार बाज़ार से बड़ा हो जायेगा। ऐसे अनुमान आज बहुत सारे चीनी लोगों को गुदगुदाते हैं और गर्व महसूस कराते हैं। राजधानी बेजिंग में इस समय 121 संग्रहालय हैं। सिर्फ़ पेरिस में इससे ज़्यादा हैं, मगर बस कुछ वर्षों की बात है। सन् 2008 तक बेजिंग 130 संग्रहालयों के साथ पहले स्थान पर होगा। सन् 2008 वो रोमांचक वर्ष है जब बेजिंग शहर में ओलम्पिक खेलों का आयोजन होगा। कहना न होगा कि तब पदक तालिका में चीन अव्वल दर्जा हासिल करने की जी-तोड़ कोशिश करेगा। ओलम्पिक के लिए बेजिंग में तैयारियों का जुनून ग़ज़ब का है। पुराने ऐतिहासिक मकानों और गलियों (हुतौंग) का नवीनीकरण किया जा रहा है। उनकी जगह ले रहे हैं शॉपिंग मॉल, बैंक, भव्य इमारतें — यानी कंक्रीट ही कंक्रीट। शहर को साफ़ कर उसे ऐसा शानदार बनाने की कोशिश की जा रही है जिससे सन् 2008 में आने

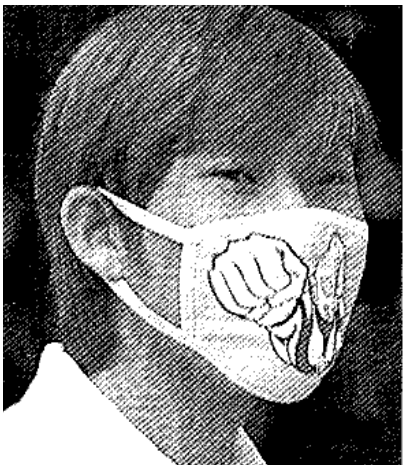

वाले खिलाड़ी और दर्शक दाँतों तले उंगलियाँ दबा लें। बेजिंग ओलम्पिक आधुनिकता की वह फ़र्राटा दौड़ है जो चीन जीतने के लिए बेताब है।

प्रेक्षक लगातार कह रहे हैं कि चीन में महत्वपूर्ण नीतिगत निर्णय सरकारी और उद्योग-व्यापार जगत का अभिजात वर्ग लेता है। ग़ौरतलब है कि वर्तमान चीन के सभी शीर्ष नेता इंजीनियर या प्रौद्योगिकी में प्रशिक्षित हैं। यह वर्ग पश्चिमी तकनीकी विकास के तरीक़ों में महारत हासिल कर पश्चिम से आगे निकलना चाहता है। चूँकि फ़िलहाल यह विकास फल दे रहा है इसलिए पेड़ गिनने में उसकी दिलचस्पी कम है। आर्थिक विकास के केन्द्र में है आधुनिक प्रौद्योगिकी जो सामाजिक जीवन में रचती-बसती जा रही है। हालाँकि चीन में स्थानीय ज्ञान-विज्ञान के योगदान का लम्बा इतिहास रहा है लेकिन आज लगता है यह लोक-ज्ञान हाशिये पर चला गया है। वर्तमान चीन की विकास रणनीति की तकनीकी महत्वाकांक्षा भीमकाय है परन्तु उसकी परिकल्पना की जड़ें पश्चिमी चिन्तन और इतिहास में हैं। पश्चिम में आधुनिक प्रौद्योगिकी-केन्द्रित विकास क्रम के साथ आलोचनात्मक विमर्श भी उभरे हैं। चीनी शासक समूहों ने पश्चिमी मॉडल तो अपना लिए हैं मगर उनके आलोचनात्मक पहलुओं की अनदेखी की है। अधीनस्थ वर्गों का ज्ञान जो अनेक विकल्प प्रस्तुत कर सकता है — जिसे चिन्तक मिशेल फूको ने 'दमित ज्ञान' कहा है — चीनी हुक्मरानों ने उसे नीतियों में शामिल करने में हिचक दिखायी है। ऐसा क्यों?

ऐसा इसलिए हो रहा है क्योंकि वर्तमान चीन आधुनिकतावादी महानता की तलाश में है। उसका कामयाब आर्थिक विकास राष्ट्रवाद की चाशनी में डूबा हुआ है। यह तरह-तरह के अन्तर्विरोध पैदा कर रहा है। आज का चीन आर्थिक रूप से अदम्य उपभोक्तावाद के दम पर पश्चिमी समाजों की तरह आधुनिक दिखना चाहता है। महान आधुनिक राष्ट्र बनने के सपने को पूरा करने के लिए प्राचीन सभ्यता की सांस्कृतिक पूँजी का भी भरपूर इस्तेमाल किया जा रहा है। चीन में यह भाव ज़ोर पकड़ता जा रहा है कि इक्कीसवीं सदी 'उसकी' होगी। वहाँ यह मान्यता मज़बूत होती जा रही है कि चीन कभी विश्व के मध्य में था मगर औपनिवेशिक षडयंत्र की वजह से केन्द्र से खिसक गया किन्तु अब पूरी दुनिया का ताना-बाना उसके इर्द-गिर्द बुना जायेगा। यह एक क़िस्म की आहत या जकड़ी हुई मानसिकता है। जकड़न से मुक्त होने की उसकी इच्छा से शायद सहानुभूति हो सकती है किन्तु चीन के एक घायल शेर बन जाने का डर भी है — वो जो बदला लेने पर उतारू हो। खिड़की-दरवाज़े खोल देने के बावजूद चीन में विदेशियों के खिलाफ़ काफ़ी तल्ख़ी और अविश्वास मौजूद है। इसकी जड़ें पश्चिमी ताक़तों और जापान के सामने झुक जाने के इतिहास में धँसी हुयी हैं। मगर आज विश्व बाज़ार और कूटनीति के अखाड़े में चीन को अमरीका और जापान से हाथ मिलाना पड़ रहा है। कहीं न कहीं चीन को इससे भारी बेचैनी होती है। लेकिन क्या यह बेचैनी अकेले चीन की है? यह तो उन तमाम राष्ट्रों में महसूस की जा सकती है जो उपनिवेशवाद की गिरफ़्त से बाहर आ कर वैश्वीकरण की चपेट में आ गये हैं।

आज के दौर के अनेक प्रखर चिन्तकों का आग्रह है कि ऐसे देशों को अपनी आधुनिकता और राष्ट्रवाद की विसंगतियों की जाँच-पड़ताल करनी होगी। आधुनिकता पर चल रही विश्वव्यापी सैद्धांतिक चर्चा से उसके बहुआयामी पक्ष उभरे हैं। अठारहवीं सदी के बाद प्रबुद्धवाद, जनतंत्र, तर्कवाद, विज्ञान और पूँजीवाद के साथ जो पश्चिमी आधुनिकता अपना प्रभुत्व जमाने में कामयाब हुयी है, अब यह मानना मुश्किल है कि आधुनिकता का वही सर्वव्यापी और एकमात्र रूप है। आधुनिकता के कई संस्करण संभव हैं और यह ज़रूरी नहीं कि वे किसी पूर्वनिर्धारित मानक मापदंडों पर खरे उतरें। आधुनिकताएँ तरह-तरह की हो सकती हैं जो किसी संस्कृति और इतिहास के अनुरूप गढ़ी जाती हैं और पश्चिमी आधुनिकता की मूल अवधारणा की साझेदार होते हुए भी उसकी फ़ोटोकॉपी नहीं होतीं। वे आचार-विचार में आलोचना से परे नहीं हैं और बहस से बच नहीं सकतीं। भारतीय आधुनिकता के स्वरूप पर बहस उन्नीसवीं सदी से शुरू हो कर हाल के वर्षों में तेज़ हुयी है। चीन में भी यह बहस रही है किन्तु आधुनिकता और राष्ट्रवाद के पर्याप्त आलोचनात्मक स्वर वहाँ सुनायी नहीं पड़ रहे हैं।

सुधारों के बाद अपनी आर्थिक सफलता के नशे में चूर चीनी नेता अपने राष्ट्र को महानतम बनाने का आह्वान करते रहते हैं। सन् 2002 में हुयी सोलहवीं पार्टी कॉङ्ग्रेस में प्रस्तुत अपनी रिपोर्ट में पूर्व राष्ट्रपति जिआँग ज़ेमिन ने स्पष्ट कहा कि चीन में सभी ताक़तों को एकजुट करना चाहिये ताकि "राष्ट्रीय एकता के महान उद्देश्य और चीनी राष्ट्र के महान पुनरुत्थान" को संभव बनाया जा सके। ज़ाहिर है इससे चीन के पड़ोसी देश चिन्तित हैं क्योंकि ड्रैगन का कुम्भकरणीय नींद से जगना न जाने क्या गुल खिलायेगा?

कुल मिला कर 1978 के बाद, सुधारों के चक्कों पर सवार चीनी रथ जिस अभियान पर निकला है उसका एकमात्र ध्येय है विजय। इस धुन में चीन, पश्चिमी आधुनिकता, विकास मॉडल और प्रौद्योगिकी का उपभोक्ता बन अग्रणी राष्ट्र बनने पर आमादा है। इसमें सब कुछ जीत लेने की तमन्ना है और यह 'ग्रेट वॉल' मानसिकता से लबरेज़ है। इसमें सामाजिक डार्विनवाद का भी ख़तरा है। सार्स ने चीन के विजय अभियान के पथ में रोड़े अटकाये। हालाँकि बीमारी होने की वजह से उसे कुचल देने में किसे शिकायत होगी किन्तु सार्स ने आर्थिक विकास केन्द्रित राष्ट्रवाद और आधुनिकता में मौजूद दरारों के प्रति आगाह किया। चीन की 'महानता' शायद तभी ज़ाहिर होगी जब वह राष्ट्र-राज्य की वैचारिक परिधि के परे वैकल्पिक आधुनिकताओं के निर्माण में योगदान देगा। ऐसा होने की कितनी उम्मीद है? फिलहाल तो....

यहाँ जनवरी 1836 का एक क़िस्सा प्रासंगिक है। औपनिवेशिक भारत में कलकत्ता मेडिकल कॉलेज में पंडित मधुसूदन गुप्त और उनके चार भारतीय छात्रों ने पहली बार एक मुर्दे की चीर-फाड़ की। तब भारत में ब्रितानी शासन का सूरज उग रहा था। अग्रेज़ी हुकूमत ने उसे पश्चिमी विज्ञान और चिकित्सा पद्धति के साथ अपनी सभ्यता की विजय का प्रमाण माना। हिंदुस्तानियों के इस कारनामे की शाबाशी के लिए कलकत्ता के फ़ोर्ट विलियम की तोपों से पचास-राउण्ड गोलों की सलामी दी गयी। कोई आश्चर्य नहीं होगा अगर सार्स विजय के बाद चीन से ऐसी सलामी के धमाके सुनाई पड़ें।